

भारतीय नारीवाद और भिन्नता का प्रश्न

वर्ग, जाति और जेण्डर का अंतर्संबंध

विजय कुमार झा

विचार और विश्लेषण की श्रेणी के रूप में वर्ग* की अवधारणा लम्बे समय तक अन्य श्रेणियों पर छाई रही है। वर्ग के इस प्रभुत्व पर पश्चिम में पहले तो नस्ल की ओर से और फिर जेण्डर की ओर से सवाल उठाए गये। भारतीय संदर्भ में कुछ-कुछ इसी तर्ज़ पर वर्ग की प्रधानता को पहले जाति और उसके बाद जेण्डर की ओर से चुनौती मिली। यह सवाल अलग से अध्ययन का विषय हो सकता है कि क्या इन सवालों और चुनौतियों से वर्ग की इयत्ता और इस पर आधारित राजनीति में किस तरह के बदलाव आये? इस पर्चे में मैंने खुद को वर्ग, नस्ल और जाति के आधार पर होने वाले विमर्शों की जेण्डरीय या नारीवादी आलोचना और उसके परिणामस्वरूप विकसित सैद्धांतिक खाँचे तक सीमित रखा है। यहाँ एक और बात दर्ज करना उचित रहेगा कि अश्वेत नारीवाद अथवा दलित नारीवाद की मुखरता से पहले ही गर्डा लर्नर और उमा चक्रवर्ती जैसे नारीवादी इतिहासकारों ने स्त्रियों के बीच नस्लीय अथवा जातिगत भिन्नता की तरफ़ ध्यान देते हुए इतिहास-लेखन करना और सत्ता-संरचनाओं के गुँथे होने की हक़ीक़त पर प्रकाश डालना शुरू कर दिया था। इसीलिए इस पर्चे की शुरुआत नारीवादी इतिहास-लेखन के ज़िक्र से हुई है।

I

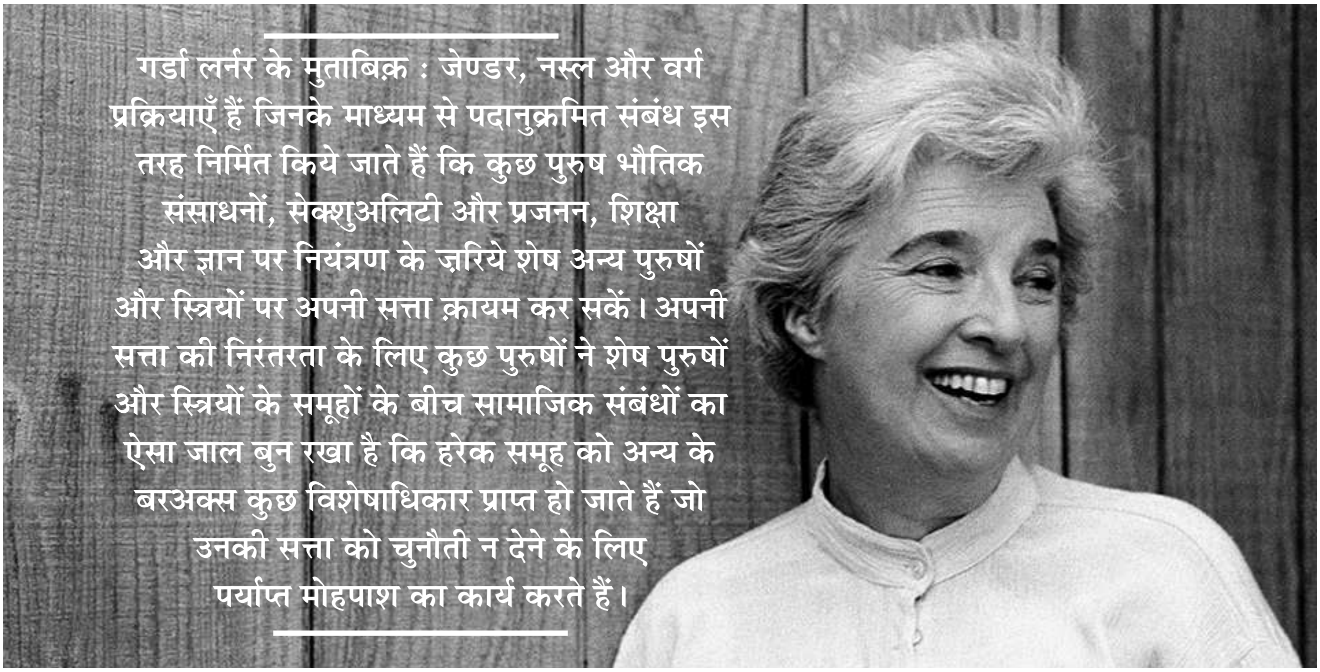
भिन्नता का मसला और नारीवादी दृष्टि-बिंदु सिद्धांत

इसमें दो राय नहीं है कि आमतौर पर मुख्यधारा के नारीवादी विमर्श** में स्त्रियों के बीच की भिन्नताओं और उनके कारण ख़ुद स्त्रियों के बीच व्याप्त सत्ता-संबंधों की परवाह नहीं की गयी है। लेकिन अपवादस्वरूप ही सही हमें कुछ ऐसी नारीवादी विदुषियाँ मिलती हैं जिन्हें भिन्नता के मसले पर

---

* यहाँ वर्ग से मेरा आशय मार्क्सवादी विचार प्रणाली में प्रयुक्त होते आ रहे वर्ग से है.

** हालाँकि मुख्यधारा की निर्मिति भी अपवर्जन की राजनीति के तहत ही होती है.



गम्भीरता से विचार करने का श्रेय दिया जा सकता है। उदाहरण के लिए गर्डा लर्नर का लेखन लिया जा सकता है। अपने एक आलेख में उन्होंने लिखा है कि स्त्री पर लिखने वाले इतिहासकार इस तथ्य से भली-भाँति वाक़िफ़ रहे हैं कि जिस तरह पुरुष एक समरूप श्रेणी नहीं है उसी तरह स्त्री को भी समरूप श्रेणी नहीं माना जा सकता।[1] इसी आलेख में उन्होंने अपने उन कार्यों का भी उल्लेख किया है जिनमें भिन्नताओं की परवाह की गयी है। यह भिन्नता का ही मसला है जिसने नारीवादियों को नारीवादी दृष्टि-बिंदु सिद्धांत (फ़ेमिनिस्ट स्टैंडपाइंट थ्योरी) विकसित करने की ओर अग्रसर किया।[2] भारतीय संदर्भ में इतिहासकार उमा चक्रवर्ती ने अपने विपुल चिंतन और लेखन के ज़रिये जाति, वर्ग और स्त्री के अंतर्संबंधों का सूत्रीकरण किया है।

II

ऊपर मैंने ध्यान दिलाने की कोशिश की कि स्त्रियों के बीच भिन्नता के मसले की ओर नारीवादियों ने ध्यान दिया, लेकिन उनके इस विमर्श को नारीवादी राजनीति ने अपने से दूर ही रखा। बहरहाल, स्त्रियों के बीच भिन्नता के मसले यानी नारीवाद के अंदरूनी मामले के अलावा मार्क्सवाद (वर्ग आधारित सोच और राजनीति) के रूप में एक बाहरी कारण भी ऐसा रहा है जिसकी वजह से नारीवादियों को विचार-श्रेणियों या सत्ता-संरचनाओं के अंतर्संबंधों के सूत्रीकरण की तरफ़ रुख़ करना पड़ा।

---

[1] गर्डा लर्नर (1993) : 237-248.

[2] फ़ेमिनिस्ट स्टैंडपाइंट थियरी के लिए देखें, नैंसी सी.एम. हार्टसॉक (1987), डोरोथी स्मिथ (1987), सांद्रा हार्डिंग (1991), सूज़न हेकमैन (1990).

मार्क्सवाद (वर्ग की केंद्रीयता)

दुनिया-भर के वंचितों, शोषितों और हाशियाकृतों के बीच मुक्ति की अलख जगाने वाले मार्क्सवादी दर्शन में उत्पादन-प्रणाली को ही मानव-सभ्यता के विकास की धुरी मानने और वर्ग को केंद्रीय श्रेणी मानने की प्रवृत्ति प्रबल रहने के कारण सामाजिक-संबंधों की बहुआयामिता नज़रअंदाज़ होती रही है। इसका अर्थ यह नहीं है कि मार्क्स और एंगेल्स ने स्त्री-पराधीनता और स्त्री-मुक्ति के प्रश्न पर विचार नहीं किया था। वे चार्ल्स फ़ूरिये की इस थीसिस से पूरी तरह सहमत थे कि सभ्यता के विकास की बात हो अथवा जन-मुक्ति की, असली पैमाना स्त्री ही है।[3] लेकिन उनका प्रमुख सरोकार पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली की समझ विकसित करने और श्रम की पूँजी से मुक्ति के रास्ते तलाशने से जुड़ा था। स्त्री की पराधीन स्थिति की स्पष्ट स्वीकारोक्ति के बावजूद उन्होंने प्रजनन अथवा यौनिकता जैसे मसलों को ज़्यादा ध्यान देने लायक़ नहीं माना। उनके हिसाब से ये सभी मसले अधिरचना के अवयव थे।[4] वैसे, एंगेल्स ने *परिवार, निजी सम्पत्ति और राज्य की उत्पत्ति* की रचना कर स्त्री-पराधीनता और निजी सम्पत्ति दोनों की ही एक साथ उत्पत्ति और इसलिए दोनों के परस्पर गहरे जुड़े होने की थीसिस प्रस्तुत कर नारीवादियों को सत्ता-संरचनाओं के परस्पर जुड़ाव आधारित सैद्धांतिक खाँचा विकसित करने की राह ज़रूर दिखाई। अपनी इस कृति में एंगेल्स ने उत्पादन और पुनरुत्पादन (प्रजनन) दोनों को बुनियादी गतिविधि माना और एकल-विवाह यानी स्त्री की यौनिकता और प्रजनक क्षमता पर किसी एक पुरुष के नियंत्रण को निजी सम्पत्ति की उत्पत्ति से उपजी परिस्थिति के साथ आबद्ध दिखाया।[5] इस बहुमूल्य योगदान और बूर्ज़्वा पारिवारिक संरचना की कटु आलोचना करने के बावजूद एंगेल्स अथवा मार्क्स ने स्त्री की मुक्ति को वर्ग-मुक्त समाज के निर्माण के साथ स्वत: होने वाली प्रक्रिया के रूप में ही देखा। चैर्नी ग्यूटेल के शब्दों में :

> जिस तरह मार्क्स और एंगेल्स ने नस्लीयता का कोई सिद्धांत नहीं गढ़ा, उसी तरह उन्होंने यौनिकता का भी सुगठित सिद्धांत विकसित नहीं किया। हालाँकि वर्ग-विश्लेषण के ज़रिये समाज को देखने की उनकी विधि नस्ल और वर्ग आधारित शोषण को समझने के लिहाज़ से आज भी सर्वाधिक उम्दा दृष्टि प्रदान करती है, लेकिन स्त्री-पराधीनता को व्याख्यायित करने के लिहाज़ से वे अत्यंत अविकसित हैं।[6]

अल्फ्रेड मेयर के विचार से यह टिप्पणी कुछ ज़्यादा ही कटु है। मार्क्स और एंगेल्स के पक्ष में उनकी दलील है कि अपने समय के लिहाज़ से वे बहुत आगे थे। उन्होंने स्त्री के मसले पर जितना और जिस ढंग से सोचा था, उसे पर्याप्त मान कर उस पर ज़्यादा बात करना ग़ैर-ज़रूरी समझा।[7] मेयर का यह भी मत है कि ऑगस्त बेबेल द्वारा स्त्री के मसले पर अलग से व्यवस्थित विचार किया जाना भी मार्क्स-एंगेल्स का इसके प्रति ज़्यादा संजीदा न होने का कारण रहा होगा।[8] लेनिन ने भी क्लारा ज़ेटकिन को बेबेल की विचार-योजना को ही पर्याप्त क़रार देते हुए और ज़्यादा माथा-पच्ची न करने का निर्देशात्मक मशविरा दिया था।[9]

बेबेल की कृति *वुमॅन अंडर सोशलिज़्म* को दूसरे इंटरनैशनल के मार्क्सवादियों अथवा लेनिन द्वारा प्रामाणिक मानने के कारण स्पष्ट थे। कुल मिला कर वे सब इस पर एकमत थे कि समाज में प्रमुख संघर्ष वर्ग-संघर्ष ही है। यदि वर्ग ख़त्म हो जाए तो परिवार, यौनिकता, प्रजनन, स्त्री-पुरुष

---

[3] *मार्क्स एंगेल्स कलेक्टेड वर्क्स* (1975) : 498-503.
[4] मार्क्स का पी.वी एन्नेकोव को लिखा पत्र, वही : 95.
[5] फ्रेड्रिक एंगेल्स (2003).
[6] चेर्नी ग्यूटेल (1974) : 15.
[7] अल्फ्रेड जी. मेयर (1978) : 96.
[8] वही.
[9] वी.आई. लेनिन (1934).

संबंध आदि से संबंधित अंतर्विरोध स्वतः ख़त्म हो जाएँगे। दूसरे शब्दों में, नारीवादी जिसे 'जेण्डर' कहते हैं उसे वे वर्गजनित अथवा वर्ग के तहत ही मानते थे।

दूसरी तरफ़ सोवियत समाजवादी व्यवस्था में स्त्रियों को अधिकतर घरेलू कार्यों के भार से मुक्त करने, विवाह-संबंधी नियमों में परिवर्तन लाने, उन्हें पुरुष के बराबर खड़ा करने के तमाम उपाय करने में बढ़-चढ़ कर शिरकत करने वाली अलेक्जेंद्रा कोलंताई को एंगेल्स अथवा अपने कॉमरेडों के इस दृढ़ विश्वास पर संदेह था कि इन सब उपायों से वास्तव में स्त्री पुरुष की अधीनता से मुक्त हो जाएगी। वे स्त्री-पराधीनता के सभी आयामों को चुनौती देने की ज़रूरत महसूस कर रही थीं। आर्थिक के अलावा स्त्री-पराधीनता के दूसरे महत्त्वपूर्ण आयाम यौन आचार-व्यवहार संबंधी क़ायदे थे।[10] ज़ाहिर है कि कोलंताई स्त्री-पराधीनता को वर्ग की श्रेणी भर में समा देने की आधिपत्यमूलक मार्क्सवादी सोच पर सवाल खड़ा कर रही थीं। कोलंताई के अवलोकन इस लिहाज़ से महत्त्वपूर्ण हैं कि एक तो वे खुद ही नवगठित समाजवादी व्यवस्था के स्त्री-मुक्ति संबंधी कार्यक्रमों की इबारत रचने और उन्हें कार्यान्वित करने की योजना में महत्त्वपूर्ण भूमिका में थीं, और दूसरी तरफ़ उस वक़्त तक लेनिन के अभियान को स्तालिनवाद का तथाकथित ग्रहण नहीं लगा था।



शर्मिला रेगे ने भारत में दलित नारीवाद के विकास में महती भूमिका निभाई। ... उन्होंने आम्बेडकर के विपुल लेखन से स्त्री-विषयक विचारों को छाँट कर संकलित और सम्पादित किया है। ... उन्होंने कई हवाले दे कर मुख्य धारा के नारीवादियों और राज्य द्वारा दलित स्त्रियों की समस्याओं के प्रति बरती जाने वाली संवेदनहीनता को उजागर किया है।

रैडिकल नारीवाद (जेण्डर की केंद्रीयता)

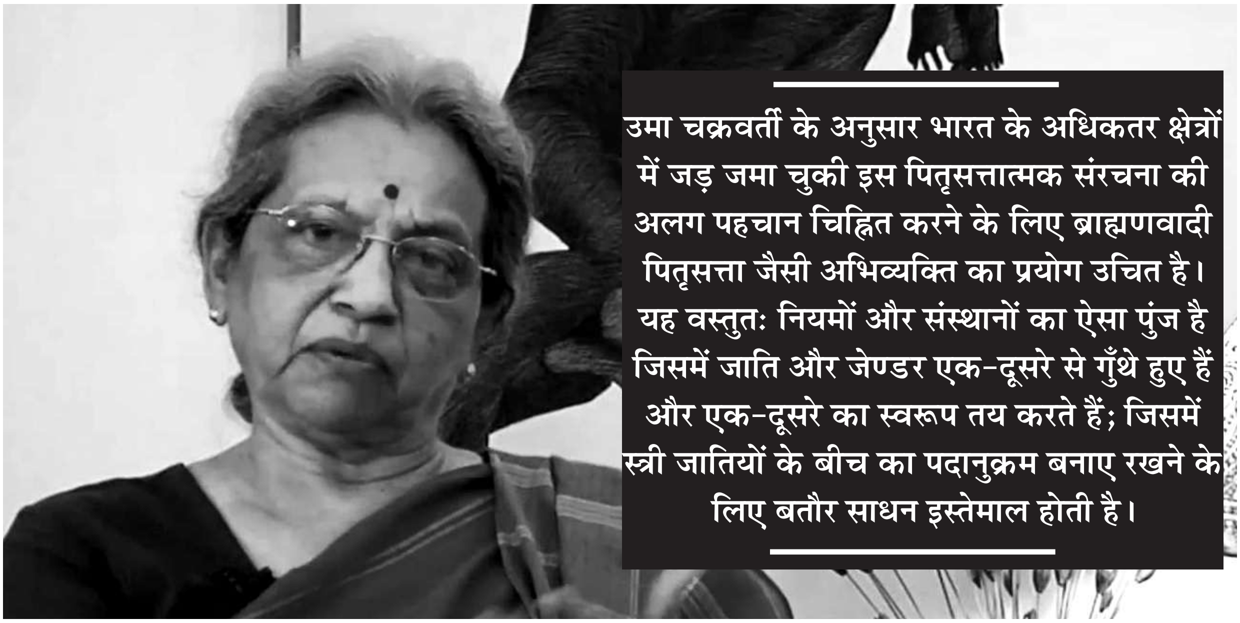
यदि एंगेल्स ने उत्पादन और प्रजनन के परस्पर जुड़े होने की बात करने के बावजूद उत्पादन को ही प्राथमिक का दर्जा दिया तो रैडिकल नारीवादियों ने प्रजनन को। जहाँ केट मिलेट ने प्रजनन को उत्पादन से स्वायत्त दिखाने की कोशिश की वहीं फ़ायरस्टोन ने प्रजनन को प्राथमिक माना।[11] जिस तरह द्वंद्वात्मकता की धारणा को भौतिकवादी काया प्रदान करने के लिए मार्क्स ने सिर के बल खड़े हिगेल को सीधा किया उसी तरह उत्पादन और प्रजनन के परस्पर जुड़ाव की एंगेल्सीय धारणा को स्वीकारते हुए फ़ायरस्टोन ने प्रजनन की प्राथमिकता स्थापित कर नारीवाद के लिहाज़ से सिर के बल खड़े एंगेल्स को सीधा कर दिया। फ़ायरस्टोन ने समाज की जो संरचना प्रस्तुत की उसमें प्रजनन आधार और आर्थिक, राजनीतिक, कानून, धार्मिक- सब-के-सब अधिरचना का अंग हो गये।[12] स्त्री की प्रजनन-क्षमता के आधार पर ही न केवल स्त्री-पराधीनता बल्कि अन्य सभी सामाजिक संबंधों की उत्पत्ति की उनकी व्याख्या शरीर-केंद्रित और इसलिए प्रतिक्रियावादी और प्रतिगामी होने की सम्भावना लिए हुई थी।[13] इसलिए नारीवादियों के लिए इस नज़रिये के साथ समतावादी समाज के निर्माण की दिशा में बढ़ पाना सहज न था। नस्ल और वर्ग के आधार पर बँटे स्त्री और पुरुष दो उर्ध्वाधर चौखटों में कैसे रखे जा सकते थे? इसमें सेक्स आधारित सत्ता-संबंध के समक्ष नस्ल और वर्ग आधारित

[10] अलेक्जेंद्रा कोलंताई (1998).

[11] केट मिलेट (1971) : 24, 38; सुलेमिथ फ़ायरस्टोन (1972) : 20-21.

[12] फ़ायरस्टोन, वही : 20-21.

[13] मिशेल बैरट (1988) : 12-13.



उमा चक्रवर्ती के अनुसार भारत के अधिकतर क्षेत्रों में जड़ जमा चुकी इस पितृसत्तात्मक संरचना की अलग पहचान चिह्नित करने के लिए ब्राह्मणवादी पितृसत्ता जैसी अभिव्यक्ति का प्रयोग उचित है। यह वस्तुतः नियमों और संस्थानों का ऐसा पुंज है जिसमें जाति और जेण्डर एक-दूसरे से गुँथे हुए हैं और एक-दूसरे का स्वरूप तय करते हैं; जिसमें स्त्री जातियों के बीच का पदानुक्रम बनाए रखने के लिए बतौर साधन इस्तेमाल होती है।

सत्ता-संबंधों की ठीक उसी तरह उपेक्षा की गयी थी जिस तरह मार्क्सवाद में वर्ग आधारित सत्ता-संबंध के समक्ष नस्ल एवं सेक्स आधारित संबंधों की। लेकिन इसमें दो राय नहीं कि रैडिकल नारीवाद ने सेक्स आधारित सत्ता-संबंध की समझ को गहराई और व्यापकता प्रदान करने के लिहाज़ से ऐतिहासिक भूमिका निभाई। यही वज़ह है कि आइज़ेंस्तीन ने समाजवादी-नारीवाद के विकास के लिए रैडिकल नारीवाद और मार्क्सवाद के बीच समन्वय को पहला आवश्यक क़दम माना।[14]

वर्ग, जेण्डर और नस्ल के बीच जुड़ाव की ओर

पूँजीवादी व्यवस्था में श्रम और पूँजी के बीच का संघर्ष ठोस यथार्थ है। इसकी समझ विकसित करने से लेकर इससे पार पाने के लिए ज़रूरी औज़ार विकसित करने के लिहाज़ से मार्क्सवाद ही सबसे ज़्यादा मुक़म्मल सिद्धांत साबित हुआ। साथ ही, यौनिकता को वर्ग के मुक़ाबले गौण समझने के बावजूद स्त्री की मुक्ति के लिहाज़ से भी पुरुषों की ओर से विकसित समस्त सिद्धांतों में सबसे ज़्यादा यही रैडिकल रहा, इसलिए नारीवादियों का मार्क्सवाद के साथ लम्बा संवाद चला। इस संवाद में कभी गर्मजोशी रही तो कभी तल्ख़ी।[15]

इस संवाद की अपूर्णता और संकीर्णता तब ज़ाहिर हुई जब अश्वेत नारीवादियों द्वारा अश्वेत स्त्रियों के ऊपर एक साथ नस्ली और पितृसत्ता की मिलीजुली मार पड़ने के कड़वे अनुभव उजागर हुए।[16] मार्क्सवाद और नारीवाद के बीच संवाद में अश्वेत मसले के आने और फिर अश्वेत नारीवाद, नारीवाद और मार्क्सवाद

[14] ज़िल्ला आइज़ेंस्तीन (1979) : 6.

[15] हेडी हार्टमैन (1981) : 1-41.

[16] अश्वेत नारीवाद पर हुए कार्यों की सूची बहुत लम्बी है. यहाँ मैं जो कहना चाह रहा हूँ उसकी अच्छी अभिव्यक्ति हेजेल वी. कार्बी के आलेख में हुई है. यह आलेख जिस संकलन में शामिल है उसे अश्वेत नारीवादियों द्वारा उठाए गये मसलों के लिहाज़ से आईना-सा माना जा सकता है. हेज़ेल वी. कार्बी (1997) : 110-128.

के बीच चली बहस के परिणामस्वरूप साफ़ हुआ कि व्यवस्था को उतने सरलीकृत ढंग से व्याख्यायित नहीं किया जा सकता जितने से पारम्परिक मार्क्सवादी और नारीवादी करते आ रहे थे।

यह तथ्य उजागर हुआ कि नस्ल, वर्ग और जेण्डर— इन तीनों पर आधारित सत्ता-संरचनाएँ एक-दूसरे से इस क़दर गुम्फ़ित हैं और एक-दूसरे का इस क़दर पोषण करती हैं कि उनमें से कौन पहले शुरू हुआ, कौन बाद में अथवा कौन प्राथमिक है, कौन द्वितीयक— इस तरह का सवाल उठाना और उसके जवाब की तलाश शोषणमुक्त समाज के निर्माण के लिहाज़ से न तो यथार्थपरक समझ प्रस्तुत करने में सहायक होता है और न ही रणनीति बनाने में मददगार। इसलिए, इतिहासकार गर्डा लर्नर इस निष्कर्ष पर पहुँचीं कि ये वस्तुत: एक ही दमन-तंत्र के विभिन्न आयाम हैं।[17] नस्ल, वर्ग और जेण्डर अपनी निर्मिति और प्रकार्य— दोनों ही स्तरों पर परस्पर आश्रित, परस्पर संबंधित और अवियोज्य हैं।[18] इतना ही नहीं, इन तीनों की एक-दूसरे की निर्मिति में भी भूमिकाएँ हैं। जहाँ वर्ग की निर्मिति में जेण्डर और नस्ल की संलग्नता है, वहीं जेण्डर की निर्मिति में वर्ग और नस्ल की तथा नस्ल की निर्मिति में वर्ग और जेण्डर की।[19] मिसाल के लिए, जेण्डर पर ही ग़ौर करें तो हमें देखने को मिलता है कि वर्ग की वजह से उच्च-वर्ग की स्त्री को निम्न वर्ग की स्त्री के बरअक्स प्राप्त विशेषाधिकार और श्रेष्ठ होने की स्थिति उन्हें इन श्रेणियों पर आधारित पदानुक्रम के विरोध की जगह हिमायती बना देती है। परिणामत: जेण्डर आधारित सत्ता-संबंध के ख़िलाफ़ वे एक साथ नहीं हो पातीं। यही स्थिति वर्ग और नस्ल के साथ भी है। जाति, नस्ल और वर्ग के इस तरह से जुड़े होने का गर्डा लर्नर ने बड़ा ही सटीक सूत्रीकरण किया है। लर्नर के मुताबिक :

> जेण्डर, नस्ल और वर्ग प्रक्रियाएँ हैं जिनके माध्यम से पदानुक्रमित संबंध इस तरह निर्मित किये जाते हैं कि कुछ पुरुष भौतिक संसाधनों, सेक्शुअलिटी और प्रजनन, शिक्षा और ज्ञान इन सबके नियंत्रण के ज़रिये शेष अन्य पुरुषों और स्त्रियों पर अपनी सत्ता क़ायम कर सकें। अपनी सत्ता की निरंतरता के लिए कुछ पुरुषों ने शेष पुरुषों और स्त्रियों के समूहों के बीच सामाजिक संबंधों का ऐसा जाल बुन रखा है कि हरेक समूह को अन्य के बरअक्स कुछ विशेषाधिकार प्राप्त हो जाते हैं जो उनकी सत्ता को चुनौती न देने के लिए पर्याप्त मोहपाश का कार्य करते हैं।[20]

ग़ौरतलब है कि लर्नर का यह सूत्रीकरण उनके खुद के इतिहास-लेखन कार्यों के क्रम में मिले तथ्यों और मानवशास्त्रियों के कार्यों से प्राप्त जानकारियों पर आधारित है।[21]

III

भारतीय संदर्भ : अल्टेकरीय खाँचा और उसकी आलोचना

भारत में भी नारीवादी इतिहासकरों ने विरासत में मिले स्त्री की स्थिति वाले अल्टेकरीय खाँचे की कमियाँ रेखांकित करते हुए जाति, वर्ग और जेण्डर के परस्पर जुड़ाव आधारित खाँचा विकसित करने तक की यात्रा पूरी की है।

यदि भारत में इतिहास-लेखन और उसके स्त्री से संबंध की बात करें तो जब से आधुनिक ढंग का इतिहास लिखा जाना शुरू हुआ (औपनिवेशिक अवधि) तभी से स्त्री के लिए इसमें जगह दी जाने लगी थी। ख़ासकर, प्राचीन भारत के इतिहास पर विचार-विमर्श स्त्री के ज़िक्र के बिना पूरा नहीं होगा— यह एहसास इतिहासकारों को था। हालाँकि उनकी यह चर्चा स्त्री की स्थिति की जानकारी के दायरे में

---

[17] गर्डा लर्नर : 136.
[18] वही : 153.
[19] वही : 197.
[20] वही : 196.
[21] वही : अध्याय 11.

सीमित थी। दरअसल, वे उस बोध से परिचालित हो रहे थे जिसकी निर्मिति औपनिवेशिक अवधि में सभ्य/असभ्य होने को लेकर अंग्रेज़ों और भारतीयों के बीच चली बहस और पैमाने के रूप में स्त्री की स्थिति को प्रमुखता प्रदान करने के क्रम में हुई थी। वैदिक युग का स्वर्ण युग घोषित किया जाना भी इसी बोध का नतीजा था। ऐसे में स्त्री का इस सीमित खाँचे के तहत ही सही, लेकिन इतिहास-लेखन का हिस्सा बन जाना लाज़िम था। वैसे, उसी दौरान विवाह, परिवार, नातेदारी आदि का अध्ययन करने वाले मानवशास्त्रियों ने भी स्त्री की स्थिति में दिलचस्पी लेना शुरू कर दिया था।[22]

स्त्री की स्थिति भर से ताल्लुक़ रखने वाले इस खाँचे ने गम्भीर इतिहास-लेखन से लेकर स्कूल-कॉलेज की पाठ्य पुस्तकों के साथ-साथ सहज-बोध के रूप में अपनी गहरी पैठ बना ली। इसकी बानगी हमें विभिन्न लोकप्रिय पत्रिकाओं और समाचार पत्रों द्वारा कुछ सफल स्त्रियों की सूची प्रदान करने अथवा राज्य की ओर से आँकड़े प्रस्तुत करने के ज़रिये स्त्री-सशक्तीकरण के दावों में अक्सर देखने को मिल जाती है। यही कारण है कि नारीवाद- दृष्टिकोण से इतिहास-लेखन का खाँचा बनाने के लिए विद्वानों ने पहले से विद्यमान इस खाँचे की कमियाँ उजागर करना ज़रूरी समझा।[23] इस खाँचे से इतिहास लिखने वालों के बीच बी.एस. अल्टेकर का कार्य का सबसे ज़्यादा बेहतरीन और प्रभावोत्पादक होने के कारण इसे अल्टेकरीय खाँचा कहा गया।[24] इसकी सबसे बड़ी कमी इसका स्त्री की स्थिति और समाज की बुनावट के जुड़ाव को नज़रअंदाज़ करना रहा है।[25] नतीजतन, इसके तहत इतिहास लिखने वाले इतिहास की एक अपूर्ण और त्रुटियुक्त तस्वीर पेश करते रहे हैं। वैदिक युग को स्त्री की स्थिति के लिहाज़ से स्वर्ण युग घोषित करना इसकी सबसे बड़ी मिसाल है। हालाँकि विद्वानों ने इस स्वर्ण युग को नक़ली साबित कर दिया है,[26] लेकिन ऊँची जातियों की सामूहिक चेतना में स्वर्ण युग के इस मिथक की काई कई ऐतिहासिक कारणों से मोटी होती चली गयी है और इसीलिए इसके हटने में अभी और वक़्त लग सकता है।

जाति और जेण्डर

बाद के महत्त्वपूर्ण इतिहासकारों में भी, ख़ासकर जिन्होंने मार्क्सवादी नज़रिये से साधारण जनों को ही इतिहास का निर्माता मानते हुए इतिहास-लेखन किया, यदि अपवादों को छोड़ दें तो या तो स्त्री को तवज्जो न देने की प्रवृत्ति रही या दी भी गयी तो मामूली ही।[27] जाति/वर्ण के साथ स्त्री की स्थिति को जोड़ कर देखने के जहाँ बड़े इतिहासकारों ने अपवादस्वरूप प्रयास ही किये, वहीं जाति-व्यवस्था की दलित चिंतकों ने जो समझ विकसित की उसमें स्त्री की पराधीनता और जाति के बीच का गठबंधन स्पष्ट हो कर सामने आया। ज्योतिबा फुले ने शूद्रों, अति-शूद्रों और सभी स्त्रियों को ब्राह्मणों द्वारा खड़ी की गयी व्यवस्था में शोषित की तरह देखा।[28] ऊँची जातियों में विधवाओं की दारुण अवस्था और निम्न जातियों के शोषण, दोनों के लिए ब्राह्मणों द्वारा बनाई गयी व्यवस्था को ज़िम्मेदार मानने की फुले की समझ में दोनों ही शोषणों के बीच व्यवस्थागत जुड़ाव का तर्क निहित था।[29] फुले वास्तव में एक बेजोड़ हस्ती थे। फ़ूको द्वारा ज्ञान और सत्ता के बारे में किये गये विचार और दिये गये मंत्र 'नॉलेज इज़ पॉवर' से बहुत पहले ज्ञान के अधिकार से वंचित तबक़े के बीच एक ऐसे व्यक्ति का उभरना वास्तव में एक

---

[22] एम.एन. श्रीनिवास (1977) : 221.
[23] कुमकुम रॉय और उमा चक्रवर्ती (1988).
[24] उमा चक्रवर्ती (1988) : 44-52.
[25] रॉय और चक्रवर्ती, वही.
[26] उमा चक्रवर्ती (2006) : 27-87.
[27] रॉय और चक्रवर्ती, वही.
[28] ज्योतिबा फुले (2002) : 191-197.
[29] वही : 191-197.

अनोखी बात थी जो ऊँची जातियों के शोषण और उसे निरंतरता देने वाली व्यवस्था के टिके रहने में ज्ञान और उस पर एकाधिकार को महत्त्वपूर्ण कारक के रूप में देख रहा था।[30] व्यवस्था को उसकी समग्रता में समझने और जाति को भौतिक संसाधनों, ज्ञान और जेण्डर-संबंधों के जटिल तानेबाने के तहत समझ विकसित करने के फुले के प्रयासों के कारण ही शायद गेल ओमवेट ने उन्हें जाति का पहला ऐतिहासिक भौतिकवादी सिद्धांतकार क़रार दिया है।[31]



फ़ूको ... से बहुत पहले ज्ञान के अधिकार से वंचित तबक़े के बीच एक ऐसे व्यक्ति का उभरना वास्तव में एक अनोखी बात थी जो ऊँची जातियों के शोषण और उसे निरंतरता देने वाली व्यवस्था के टिके रहने में ज्ञान और उस पर एकाधिकार को महत्त्वपूर्ण कारक के रूप में देख रहा था। व्यवस्था को उसकी समग्रता में समझने और जाति को भौतिक संसाधनों, ज्ञान और जेण्डर-संबंधों के जटिल तानेबाने के तहत समझ विकसित करने के फुले के प्रयासों के कारण ही शायद गेल ओमवेट ने उन्हें जाति का पहला ऐतिहासिक भौतिकवादी सिद्धांतकार क़रार दिया है।

फुले के बाद पेरियार ऐसे दूसरे दलित चिंतक हुए जो जेण्डर और जाति के परस्पर जुड़े होने की हक़ीक़त के नज़दीक जा सके। पौरुष और स्त्रीत्व की विद्यमान धारणाओं के कटु आलोचक पेरियार ने स्पष्ट कहा कि जिस तरह ब्राह्मणवाद ने श्रम करने वालों की बड़ी संख्या को शूद्रता की स्थिति में डाल रखा है, उसी तरह उसने विवाह के ज़रिये स्त्रियों को दासता की डोर में बाँध रखा है।[32] इतना ही नहीं पेरियार ने एकल विवाह और स्त्रियों की यौनिकता पर पुरुषों के नियंत्रण को निजी सम्पत्ति की उत्पत्ति को साथ जोड़ कर देखा।[33] कहना न होगा कि इस रूप में वे फ्रेडरिक एंगेल्स के क़रीब जा पहुँचे।

पेरियार के बाद जाति और जेण्डर के जुड़ाव पर ज़ोर डालने वाले जो एक और रैडिकल दलित चिंतक हुए, वे थे आम्बेडकर। आम्बेडकर ने जाति के सीमांकित दायरे को शुद्ध/अशुद्ध के आधार पर सीढ़ीनुमा अंदाज़ में स्थित होने और उसे सम्भव करने में विवाह-संबंधी कठोर नियम-क़ायदों की महती भूमिका रेखांकित की। आम्बेडकर के मुताबिक़ :

> जाति-व्यवस्था के लिए सजातीय विवाह और स्त्रियों की यौनिकता के नियंत्रण के लिहाज़ से ऊँची जातियों ख़ासकर, ब्राह्मणों में सती, बलात् विधवापन, बाल-विवाह जैसे अस्त्र ईजाद किये गये। जो जाति ब्राह्मणों के नज़दीक हैं उन्होंने स्त्री पर ये तीनों ही क़ायदे लाद रखे हैं; जो उनसे तनिक दूर हैं उन्होंने विधवापन और बाल विवाह अपना रखा है; जो और भी दूर हैं उन्होंने बाल-विवाह अपना रखा है, और जो सबसे दूर हैं वे जाति के नियमों में आस्था बनाए रख कर जाति-व्यवस्था के परिचालन में सहयोग करते रहे हैं।[34]

यदि दलित चिंतन/आंदोलन जाति और जेण्डर के जुड़ाव आधारित चिंतन की अपनी समृद्ध विरासत को लेकर आगे बढ़ा होता और स्त्री-चिंतन/आंदोलन ने जाति आधारित जटिलताओं की तरफ़ उदासीनता न बरती होती, तो दलित नारीवादियों को भिन्नता का मसला उठा कर अलग से अपना मंच बनाने की ओर शायद ही अग्रसर होना पड़ता।[35] जिस तरह पश्चिम में अश्वेत नारीवादियों द्वारा भिन्नता

---

[30] वही : 17.

[31] गेल ओमेवेट (1994) : 23.

[32] पेरियार ई. वी. रामास्वामी नायकर (2010).

[33] वही. पेरियार के स्त्री संबंधी विचारों के विस्तृत विवेचन के लिए देखें, वी. गीता (1998).

[34] बी.आर. आम्बेडकर : 27-28. इसे आम्बेडकर ने न्युयॉर्क की कोलम्बिया युनिवर्सिटी में 9 मई, 1916 को डॉ. ए.ए. ग्वाइडेनवीज़र के मानवविज्ञान सेमिनार में प्रस्तुत किया था.

[35] 11 अगस्त, 1995 को दिल्ली में नेशनल फ़ेडरेशन ऑफ़ दलित वुमॅन का गठन किया गया. देखें, गोपाल गुरु (1995) : 2548-2550.



जाति-व्यवस्था के लिए सजातीय विवाह और स्त्रियों की यौनिकता के नियंत्रण के लिहाज़ से ऊँची जातियों ख़ासकर, ब्राह्मणों में सती, बलात् विधवापन, बाल-विवाह जैसे अस्त्र ईजाद किये गये। जो जाति ब्राह्मणों के नज़दीक हैं उन्होंने स्त्री पर ये तीनों ही क़ायदे लाद रखे हैं; जो उनसे तनिक दूर हैं उन्होंने विधवापन और बाल विवाह अपना रखा है; जो और भी दूर हैं उन्होंने बाल-विवाह अपना रखा है, और जो सबसे दूर हैं वे जाति के नियमों में आस्था बनाए रख कर जाति-व्यवस्था के परिचालन में सहयोग करते रहे हैं।

का मसला उठाए जाने ने नारीवादी दृष्टिबिंदु सिद्धांत के विकास का मार्ग प्रशस्त किया, उसी तरह भारत में भिन्नता का मसला उठाए जाने ने दलित नारीवादी दृष्टिबिंदु सिद्धांत के विकास की राह खोली।[36] इस सिद्धांत की सूत्रकार शर्मिला रेगे ने भारत में दलित नारीवाद के विकास में महती भूमिका निभाई। 2013 में उनकी कृति *अगेंस्ट द मैडनेस ऑफ़ मनु* प्रकाशित हुई। इसमें उन्होंने आम्बेडकर के विपुल लेखन से स्त्री-विषयक विचारों को छाँट कर संकलित और सम्पादित किया है। सबसे महत्त्वपूर्ण है इसका परिचय वाला हिस्सा जिसमें उन्होंने कई हवाले दे कर मुख्यधारा के नारीवादियों और राज्य द्वारा दलित स्त्रियों की समस्याओं के प्रति बरती जाने वाली संवेदनहीनता को उजागर किया है।[37] अभी वे इस दिशा में हमारा और भी मार्गदर्शन कर सकती थीं, पर दुर्योग से कम उम्र में ही उनका निधन हो गया।

मार्क्सवाद का सर्वसमावेशी दर्शन के रूप में छाना

फुले, पेरियार अथवा आम्बेडकर के विश्लेषण की सूक्ष्मता यदि बाद के दलित चिंतकों अथवा आंदोलन में धुँधली होती चली गयी, तो इसका एक कारण बीस के दशक में मार्क्सवाद का सर्वसमावेशी दर्शन के रूप में उभरना भी था। ग़ौरतलब है कि यह मार्क्सवाद (कोसंबी को छोड़ कर) मोटे तौर पर दूसरे इंटरनैशनल द्वारा सूत्रीकृत था और सोवियत रास्ते से यहाँ आया था। यह इस मामले में तो यह बड़ा ही उपयोगी और मार्गदर्शक साबित हुआ कि सामाजिक-संबंध अथवा संस्थाएँ ऐतिहासिक हैं यानी उनका इतिहास में कभी निर्माण हुआ है, उनका स्वरूप बदलता रहा है और इसलिए उन्हें ख़त्म भी किया जा सकता है। इसका दूसरा योगदान सामाजिक-संबंधों/संस्थाओं की जड़ में उत्पादन-प्रणाली (उत्पादन तकनीक और तदजन्य संबंध) को दर्शाना रहा। लेकिन इसकी ख़ामी यह थी कि यह वर्ग को ही केंद्रीयता प्रदान कर रहा था। जैसा कि हमने पश्चिम के संदर्भ में मार्क्सवाद और नारीवाद के बीच के बहस में भी पाया है, यहाँ भी परिवार, नातेदारी, जेण्डर और जाति (पश्चिम में नस्ल) के लिए न केवल दोयम बल्कि न के बराबर जगह थी। था तो केवल वर्ग और वर्ग संघर्ष।[38]

मार्क्सवाद के इस यांत्रिक संस्करण ने न केवल श्रमिक और किसान आंदोलन, बल्कि जाति विरोधी अभियान के मिजाज़ को भी प्रभावित किया। कारण, इस मिजाज़ में जाति को मार्क्सवाद के आधारभूत सूत्रों के तहत ही जगह मिली। साम्यवादियों, समाजवादियों और नेहरूवादी प्रगतिशीलों के लिए जाति अधिरचना का अंग थी और इसलिए एक अनार्थिक श्रेणी थी।[39] जाति और वर्ग के बीच के संबंध पर जो बहस-मुबाहिसा चला उसमें जेण्डर नदारद रहा। यह अलग बात है कि जेण्डर की

[36] शर्मिला रेगे (1998).
[37] शर्मिला रेगे (सं.) (2013).
[38] गेल ओमवेट : 24.
[39] वही : 25.

जाति की निर्मित और उसकी निरंतरता में न केवल महत्त्वपूर्ण बल्कि प्रमुख भूमिका है— इसे मार्क्सवादी इतिहासकार इरफ़ान हबीब ने स्वीकार किया है।[40]

इन परिस्थितियों में यहाँ नारीवादी विद्वानों के लिए जाति की निर्मिति और निरंतरता में वर्ग और जेण्डर की संलग्नता, वर्ग की निर्मिति और निरंतरता में जेण्डर और जाति की संलग्नता और जेण्डर की निर्मिति और निरंतरता में वर्ग और जाति की संलग्नता के यथार्थ का ख़्याल रखते हुए सैद्धांतिक खाँचा विकसित करना ज़रूरी हो गया।

जाति, वर्ग और जेण्डर के जुड़ाव की ओर

पश्चिम की तरह ही यहाँ भारत में भी नारीवादी विद्वानों ने मार्क्सवाद और दलित-चिंतन के साथ संवाद करते हुए जाति, वर्ग और जेण्डर के परस्पर जुड़ाव आधारित खाँचे का सूत्रीकरण किया है। इतिहासकारों ने स्त्री की स्थिति वाले अल्टेकरीय खाँचे की कमियों की आलोचना के क्रम में भी बृहत्तर खाँचा विकसित करने की ज़रूरत की ओर संकेत किया ही था। इसका पहले उल्लेख किया जा चुका है। श्रम, जाति, स्त्री, बौद्ध दर्शन जैसे विषयों पर कार्य करते हुए और इन पर हुए तमाम विचार-विमर्श को खँगालते हुए उमा चक्रवर्ती ने ब्राह्मणवादी पितृसत्ता की सैद्धांतिकी विकसित की जो जाति आधारित समाज-व्यवस्था की पितृसत्ता है।[41] जिस तरह गर्डा लर्नर ने नस्लीय समाज की यथार्थपरक समझ के लिए वर्ग, नस्ल और जेण्डर के परस्पर जुड़ाव आधारित खाँचे का सूत्रीकरण किया, उसी तरह जाति आधारित समाज की यथार्थपरक समझ के लिए उमा चक्रवर्ती ने जाति, वर्ग और जेण्डर के जुड़ाव आधारित खाँचे का सूत्रीकरण किया है।*** उन्होंने इस तरह के समाज से आबद्ध पितृसत्ता को ब्राह्मणवादी पितृसत्ता की संज्ञा दी है। उनके शब्दों में :

> यह स्त्री पराधीनता के विभिन्न रूपों में से कोई एक रूप भर नहीं, बल्कि हिंदू समाज और जाति आधारित व्यवस्था से आबद्ध ख़ास संरचना है। भारत के अधिकतर क्षेत्रों में जड़ जमा चुकी इस पितृसत्तात्मक संरचना की अलग पहचान चिह्नित करने के लिए ब्राह्मणवादी पितृसत्ता का प्रयोग उचित है। यह वस्तुत: नियमों और संस्थानों का ऐसा पुंज है जिसमें जाति और जेण्डर एक-दूसरे से गुँथे हुए हैं और एक-दूसरे का स्वरूप तय करते हैं; जिसमें स्त्री जातियों के बीच का पदानुक्रम बनाए रखने के लिए बतौर साधन इस्तेमाल होती है। इसने ऐसे क़ायदे बना रखे हैं कि दायराबद्ध विवाह-वृत्तों की पदानुक्रमता का उल्लंघन हुए बिना जाति व्यवस्था का पुनरुत्पादन होता रहे। जाति की स्थिति और तदजन्य रुतबा (शुद्ध/अशुद्ध) के अनुसार ही उसकी स्त्रियों के लिए क़ायदे तय किये गये हैं। इन क़ायदों को तय करने का अधिकार ऊँची जातियों के पास रहा है। यह पतिव्रता और साध्वी स्त्रियों के महिमामण्डन द्वारा स्त्रियों से उनकी अपनी ही अधीनता के लिए सहमति प्राप्त करता है। ज़रूरत पड़ने पर इसने दण्ड की भी व्यवस्था कर रखी है। संक्षेप में कहें तो ब्राह्मणवादी पितृसत्ता ब्राह्मणवादी आचार संहिताओं में प्रस्तावित क़ायदों का स्थूल रूप है जिसे राजा अथवा उसका प्रतिनिधि लादते रहे हैं। आनुष्ठानिक हैसियत उठाने के लिए निम्न जातियाँ अकसर इन क़ायदों का अनुसरण करना शुरू कर देती हैं। इस क्रम में वे यह नहीं समझ पातीं कि उच्च और निम्न जातियों की स्त्रियों के लिए विवाह और यौन संबंधी अलग-अलग क़ायदों का ऊँची जातियों द्वारा निम्न जातियों के श्रम के दोहन से गहरा संबंध है। यह इस बात की व्याख्या

---

[40] इरफ़ान हबीब (2005) : 178–179.

[41] उमा चक्रवर्ती (1993) : 579–585.

*** वर्ग, नस्ल और जेण्डर समीकरण में नस्ल की जगह जाति रखने का अर्थ यह नहीं है कि नस्ल और जाति तदनुरूप हैं. जाति और नस्ल समान हैं या असमान, यह बहस बहुत ही पुरानी और विशद है. 2001 में डरबन सम्मेलन में जाति को नस्ल मानने की माँग से यह बहस और भी अधिक व्यापक हुई. इस मामले में मुझे धीरूभाई शेठ का मत उचित जान पड़ता है कि नस्ल के ऊपर से जीव-वैज्ञानिक

करता है कि क्यों एक तरफ़ तो ऊँची जातियों में विधवा पुनर्विवाह भी निषिद्ध है और दूसरी तरफ़ निम्न जातियों की स्त्रियों के लिए पुनर्विवाह ही नहीं बल्कि उनसे जबरन सहवास तक की सम्भावना खुली रखी गयी। श्रम दोहन जाति-व्यवस्था का मूल मंतव्य है कारण इसी के लिए जेण्डर आधारित क़ायदे बनाए गये ताकि ऊँची जातियों का हित सध सके।[42]

ब्राह्मणवादी पितृसत्ता के बारे में कुछ सामान्य बातें

वर्णाश्रम आधारित हिंदू समाज में जातियाँ आनुष्ठानिकता, भूमि पर स्वामित्व, ज्ञान और हिंसा पर एकाधिकार तथा श्रम-विभाजन के आधार पर पदानुक्रमित स्वरूप में स्थित रही हैं। आनुष्ठानिकता यानी शुद्ध/अशुद्ध के आधार पर ब्राह्मण सबसे शीर्ष पर हैं, उनके नीचे क्षत्रिय हैं, उनके नीचे वैश्य, फिर शूद्र और सबसे नीचे अस्पृश्य/अति-शूद्र/दलित। यह सोपानीकरण वर्णाश्रम धारणा पर आधारित है जिसमें सबके लिए पेशे भी निर्धारित हैं। शुद्ध/अशुद्ध के आधार पर पेशे भी शुद्ध/अशुद्ध के रूप में वर्गीकृत हैं। सबसे ज़्यादा अशुद्ध कार्य करने वाले दलित और सबसे शुद्ध कार्य करने वाले ब्राह्मण एकदम से विपरीत ध्रुवों पर स्थित हैं, इसलिए दोनों के बीच किसी भी तरह का स्पर्श/सम्पर्क न हो, इसकी व्यवस्था रही है।[43] जाति-व्यवस्था वर्ण-व्यवस्था के वृहत्तर चौखटे में इस तरह से व्यवस्थित है कि भू-स्वामी जाति सबसे ऊपर है और भूमिहीन/श्रमिक जातियाँ सबसे नीचे हैं। भू-स्वामी जाति, जिसे एम.एन. श्रीनिवास ने प्रभु जाति[44] की संज्ञा दी है, जो आनुष्ठानिक पैमाने यानी शुद्ध/अशुद्ध की सीढ़ी में ज़्यादा नीचे नहीं होती। सत्ता उसी के हाथ में होने के कारण ग्रामीण समाज में इसी का दबदबा रहा है। पितृसत्ता संबंधी नियम-क़ायदे लादने और उल्लंघन करने वाले को दण्ड देने का काम भी यही करती आयी है।

विवाह-व्यवस्था की भूमिका

अब सवाल है कि जाति-वर्ग की यह व्यवस्था पुनरोत्पादित कैसे होती रही? जिस तरह वर्गीय संरचना की निरंतरता विवाह-व्यवस्था और उत्तराधिकार के नियम पर आधारित है[45], उसी तरह जाति-वर्ग व्यवस्था भी मुख्य तौर पर विवाह और उत्तराधिकार संबंधी नियमों के कठोर पालन पर टिकी हुई है। जहाँ जाति नहीं है यानी वर्गाधारित समाज में सम्पत्ति के कुछ लोगों (अभिजनों) के बीच बने रहने के लिए यह ज़रूरी रहा है कि विवाह-संबंध सम्पत्तिशालियों के बीच ही हों। कारण यदि कोई पुरुष अपने से निम्न दर्जे (अल्प सम्पत्ति अथवा सम्पत्ति-विहीन) की लड़की से विवाह करता तो एक तो उसकी सम्पत्ति में इज़ाफ़ा नहीं होता; और दूसरा, विपन्न रिश्तेदार के अभावों की पूर्ति के क्रम में उसकी सम्पत्ति कम होती जाती। इसलिए सम्पत्तिशाली तबक़े के लिए अपने बच्चों, उसमें भी ख़ासकर, लड़कियों की यौनिकता को नियंत्रित रखना ज़रूरी रहा है। लर्नर के मुताबिक़ प्राचीन बेबीलोन में पितृसत्ता की शुरुआत से ही कुलीन वर्ग की स्त्रियों को आर्थिक और कई सामाजिक स्तरों पर स्वतंत्रता प्राप्त थी, वे ज़मीन और दास ख़रीद और बेच सकती थीं, अपने हिसाब से व्यापार आदि में भी शिरकत कर सकती थीं लेकिन उनकी यौनिकता पर कठोर बंदिशें थीं, परपुरुषगमन के लिए मृत्युदण्ड का प्रावधान था, जबकि

परत हटा दी जाए तो वह जाति की तरह सामाजिक श्रेणी रह जाती है. लेकिन आम जनमानस जीव-वैज्ञानिक तर्क से परिचालित नहीं होता. उसमें नस्ल की पारम्परिक धारणा ही जड़ जमाए हुई है. देखें, अभय कुमार दुबे (2005).

[42] उमा चक्रवर्ती (2011) : 40-41.

[43] वही : 20-21.

[44] एम.एन. श्रीनिवास (1959) : 1-16.

[45] गर्डा लर्नर : 134.

पुरुष का परस्त्रीगमन अपराध तक भी नहीं माना जाता था।[46] स्त्री के लिए यह ज़रूरी था कि वह पुत्र को जन्म दे ताकि सम्पत्ति का उत्तराधिकारी मिले और उसका संरक्षण और परिवर्धन हो। पुत्र के न होने का दोष स्त्री के ही मत्थे मढ़ा जाता था और विवाह-विच्छेद किया जा सकता था। उसकी कोई अहमियत नहीं रह जाती थी। यहाँ तक कि उसे क़ैद भी कर दिया जाता था।[47] निष्कर्षत:, हम कह सकते हैं कि पितृवंशीयता की निरंतरता अथवा सम्पत्ति के पीढ़ी-दर-पीढ़ी संरक्षण के ज़रिये वर्ग-व्यवस्था का पुनरुत्पादन सभी पितृसत्तात्मक समाजों की ज़रूरत रहा है। वर्ग-समाज के निर्माण के पहले ही स्त्री की यौनिकता नियंत्रण और विनिमय की वस्तु बन चुकी थी[48] और वर्ग-व्यवस्था के पुनरुत्पादन के लिए उसकी यौनिकता के नियंत्रण को और ज़्यादा कठोर बनाना ज़रूरी हो गया था।

भारतीय संदर्भ में, वर्ग-जाति व्यवस्था में आनुष्ठानिकता की मौजूदगी की वजह से स्थिति तनिक ज़्यादा जटिल हो जाती है। चूँकि प्रत्येक जाति की अपनी आनुष्ठानिक ख़ासियत है यानी शुद्ध/अशुद्ध के पैमाने पर उसका एक नियत स्थान है इसलिए यहाँ न केवल पितृवंशीयता बल्कि आनुष्ठानिकता की निरंतरता का भी ख़्याल रखना ज़रूरी हो जाता है। यही वजह है कि एक निश्चित दायरे के भीतर विवाह-संबंध न क़ायम किया जाए यानी बहिर्विवाह (एग्ज़ोगेमी) की रीति तो प्राय: सभी व्यवस्थाओं में रही है, लेकिन एक निश्चित दायरे के भीतर ही विवाह होना चाहिए यानी अंतर्विवाह अथवा सजातीय विवाह की अनिवार्यता केवल जाति समाज की ख़ासियत है। यहाँ यह धारणा व्याप्त है कि संतान का रक्त यानी उसकी शुद्धता/आनुष्ठानिकता द्विआयामी होती है। दूसरे शब्दों में, संतान का रक्त माता और पिता दोनों के ही रक्त से निर्धारित होता है, इसलिए माता और पिता दोनों का ही समान रक्त-स्तर यानी एक ही जाति से होना ज़रूरी है।[49] यही कारण है कि प्रतिलोम संबंध यानी निम्नजाति के पुरुष और ऊँची जाति की स्त्री के बीच संबंध मात्र की कल्पना आतंक पैदा करने वाला रहा है। इसलिए प्रतिलोम संबंध रोकने के लिए उसकी यौनिकता के नियंत्रण के उद्देश्य से विधि संहिताएँ रची गयीं और उसे लागू करने की जिम्मेदारी राज्य की रही।[50] नूर यलमान के अध्ययन से यह बात उभर कर सामने आयी है कि हाल तक प्रतिलोम संबंधों से जन्मी संतानें और उनकी माँएँ या तो डुबोकर मार दी जाती रही हैं या जाति-बहिष्कार और जाति-से जुड़े विशेषाधिकारों को खोने का दण्ड भोगती रही हैं।[51]

दरअसल, हिंदू समाज व्यवस्था का मूल मक़सद दायराबद्ध/सीमांकित संरचनाओं (क्लोज़्ड स्ट्रक्चर) का निर्माण करना रहा है ताकि ज़मीन, स्त्री और आनुष्ठानिक ख़ासियत संरक्षित रखे जा सकें।[52] आनुष्ठानिकता के स्त्री की शुद्धता पर टिके होने और स्त्री की शुद्धता के उसकी यौनिकता में आबद्ध होने की मान्यता के कारण ब्राह्मणवादी पितृसत्ता में ऊँची जाति की स्त्री, उसमें भी ख़ासकर, ब्राह्मण स्त्री की यौनिकता के कठोर नियंत्रण की व्यवस्था रही है।[53] ऊँची जाति की स्त्री पर ही जाति-व्यवस्था के बने रहने का दारोमदार है। वह जाति व्यवस्था का प्रवेश द्वार है।[54] बाल-विवाह, विधवा-पुनर्विवाह पर पाबंदी और पतिव्रता धर्म का पालन (जिसमें सती होना भी शामिल था) -ऊँची जाति की स्त्री की यौनिकता पर लगाम कसने के ही तो उपक्रम रहे हैं।

---

[46] वही : 157.
[47] वही : 160.
[48] गेल रूबिन (1975) : 171-184.
[49] उमा चक्रवर्ती (1993) : 579.
[50] वही : 583.
[51] नूर यलमान (1962) : 52.
[52] वही : 25-58.
[53] उमा चक्रवर्ती (1993) : 579.
[54] वही : 580.

पतिव्रता की धारणा का ईजाद ब्राह्मणवादी पितृसत्ता को दीर्घजीवी बनाने के लिहाज़ से बड़ी अहम परिघटना सिद्ध हुई। यह धारणा स्त्रियों के दिलो-दिमाग़ में गहरी पैठ बनाने में कामयाब रही। आख़िर इससे ज़्यादा आदर्श स्थिति किसी पितृसत्ता के लिए और क्या हो सकती है कि स्त्री खुद ही अपनी यौनिकता का नियंत्रण करे और ऐसा करके गौरवान्वित भी महसूस करे। इस तरह की मिसाल शायद ही किसी अन्य पितृसत्ता में दिखाई देती हो।

दरअसल, निम्न जातियों के स्वभाव की जो तस्वीर रची गयी उसमें और उनके लिए प्रस्तावित आचरण में तादात्म्य की स्थिति थी, लेकिन स्त्री के स्वभाव और उसके लिए प्रस्तावित आचरण के बीच कोई मेल न था, उलटे विरोधाभास की स्थिति थी। बतौर जैविक प्राणी, स्त्री की यौनिकता की कल्पना बेलगाम, पाशव, कभी न तुष्ट होने वाली, कहीं न टिकने वाली के रूप में की गयी, जबकि उसे एक पुरुष के प्रति समर्पित होकर रहना था।[55] ऐसे में पतिव्रता की धारणा की निर्मिति और स्त्री द्वारा उसका आभ्यंतरीकरण वास्तव में ब्राह्मणवादी पितृसत्ता की इबारत रचने वालों के लिए बड़ा ही सुकूनदायी साबित हुआ होगा। पतिव्रता की आभा के समक्ष स्त्री की यौनिकता के नियंत्रण में बाहरी कारकों की भूमिका फीकी पड़ गयी। इसका अर्थ यह नहीं कि वे गौण हो गये, बल्कि हुआ यह कि स्त्रियों का खुद ही अपने यौन नियंत्रण में जुट जाने से असमान और पदानुक्रमित संरचना का पुनरुत्पादन सहज हो गया और बाहरी कारक सक्रिय रहते हुए भी नज़रों से ओझल हो गये।[56]

कहना न होगा कि पातिव्रत्य के निर्वाह के मामले में जाति-व्यवस्था के सोपान में नीचे की ओर उतरने के क्रम में कठोरता की डिग्री भी घटती जाती है। कारण, स्त्री जिस जाति की है उस जाति की आनुष्ठानिक स्थिति के अनुसार ही उसकी शुद्धता यानी यौनिकता और गतिशीलता के नियंत्रण की कठोरता/नरमी तय होती है। आम्बेडकर के इस संबंध में किये विचार का पहले ही ज़िक्र किया जा चुका है। निम्न जातियों, उनमें भी ख़ासकर दलित-बहुजन स्त्रियों की यौनिकता पर बंदिशें न होने का सीधा संबंध श्रम के सहज और सस्ते में उपलब्ध होते रहने से रहा है। यह दलित स्त्रियों की आपबीती और उनके मुखर होकर सामने आने से स्पष्ट होकर उद्घाटित हुआ है।[57] दरअसल, दलित स्त्रियों को एक साथ त्रिस्तरीय शोषण की मार झेलनी पड़ती है :[58]

1. स्त्री के रूप में घर में अपने पुरुष और बाहर ऊँची जातियों के पुरुषों का पितृसत्तात्मक शोषण।
2. ऊँची जातियों के पुरुषों का जाति आधारित शोषण (बलात्कार)।
3. श्रमिक के रूप में वर्गाधारित शोषण (भूस्वामी प्राय: ऊँची और मध्य जातियों के ही होते हैं)।

स्वरूप रानी चल्लमचल्ला के शब्दों में इसकी बड़ी ही सटीक अभिव्यक्ति हुई है :

> अरे हाँ ... अपनी ज़िंदगी को मैंने जिया कब?
> घर में पुरुषाहंकार एक गाल पर थप्पड़ मारता है
> तो गली में वर्ण आधिपत्य दूसरे गाल पर चोट करता है।[59]

ब्राह्मणवादी पितृसत्ता का एक और पहलू ग़ौरतलब है जिसका संबंध दलित पौरुष से है। दलितों के शोषण का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष ऊँची जातियों के पुरुषों द्वारा दलित पुरुषों के पौरुष की खिल्ली उड़ाना भी रहा है। दलित स्त्रियाँ ऊँची जातियों के पुरुषों के हवस का आसान शिकार बनती रही हैं। इसका कारण

---

[55] वही : 583.
[56] वही.
[57] मोहनदास नैमिशराय (2005) : 230-244.
[58] उमा चक्रवर्ती (2011) : 132.
[59] मोहनदास नैमिशराय : 240.



अलेक्जेंद्रा कोलंताई को एंगेल्स अथवा अपने कॉमरेडों के इस दढ़ विश्वास पर संदेह था कि इन सब उपायों से वास्तव में स्त्री पुरुष की अधीनता से मुक्त हो जाएगी। वे स्त्री-पराधीनता के सभी आयामों को चुनौती देने की ज़रूरत महसूस कर रही थीं। आर्थिक के अलावा स्त्री-पराधीनता के दूसरे महत्त्वपूर्ण आयाम यौन आचार-व्यवहार संबंधी क़ायदे थे। ज़ाहिर है कि कोलंताई स्त्री-पराधीनता को वर्ग की श्रेणी भर में समा देने की आधिपत्यमूलक मार्क्सवादी सोच पर सवाल खड़ा कर रही थीं।

एक तो आजीविका के लिए ऊँची जातियों के घरों या खेतों में काम करने की उनकी मजबूरी रही है और दूसरा, उनकी यौनिकता का शुद्धता अथवा इज्ज़त की वस्तु न माने जाने की ब्राह्मणवादी पितृसत्तात्मक विचारधारा रही है। ऊँची जातियों के पुरुष अपने इस कृत्य को दलित पुरुषों को विपुंसीकृत करने के रूप में प्रस्तुत कर मूँछ ऐंठते रहते हैं। एक धारणा यह है कि अपने इस प्रतीकात्मक विपुंसीकरण की भरपाई दलित पुरुष घरेलू स्तर पर अपनी स्त्री पर पौरुष की आजमाइश करके हैं। दूसरी धारणा के मुताबिक़ घर के दायरे में मर्दानगी दिखाने के साथ-साथ दलित पुरुष बाहरी दायरे में भी अपने विपुंसीकरण को धता बताने के क्रम में ऊँची जातियों की स्त्रियों से बदसलूकी से पेश आ कर उग्र पौरुष अपनाने की ओर बढ़े चले जाते हैं। दलित पुरुषों द्वारा इस तरह से प्रतिक्रिया में आ कर उग्र पौरुष को गले लगाने का ख़ामियाजा भी अंतत: दलित और ग़ैर-दलित (ऊँची जातियों/मध्य जातियों) स्त्रियों को ही भुगतना पड़ता है। एस. आनंदी के कार्य से जाति और जेण्डर के बीच जुड़ाव का यह पहलू स्पष्ट हो कर सामने आया है।[60]

इतिहासकार प्रेम चौधरी के पश्चिमी उत्तर प्रदेश, हरियाणा और दिल्ली के देहाती इलाक़ों में, सगोत्र, अंतरजातीय और यहाँ तक कि सजातीय (अंतर्विवाह) विवाह की पहल करने वाले प्रेमी युगल को पंचायत द्वारा सरेआम यंत्रणा देकर मारने अथवा लड़की के पिता, भाई या अन्य पुरुष संरक्षक द्वारा मारने की आम हो चुकी घटनाओं के विवेचन में जाति, वर्ग, जेण्डर और राज्य (पुलिस) के बीच विद्यमान गठबंधन स्पष्ट होकर सामने आया है।[61]

प्रेम चौधरी के जाट-समाज पर विशद[62] अध्ययन से ज़ाहिर होता है कि कृषक समाज में पितृसत्ता के साथ कुछ ख़ासियतें जुड़ जाती हैं लेकिन उद्देश्य अंतत: स्त्री की यौनिकता और प्रजनन-क्षमता पर नियंत्रण करना ही रहता है। मिसाल के लिए, विधवा-पुनर्विवाह की रीति। ऊपरी तौर पर तो इसे स्त्री की अपेक्षाकृत बेहतर स्थिति के प्रतीक के रूप में प्रस्तुत किया जाता रहा है। लेकिन 'करेवा', 'कराओ'

---

[60] एस. आनंदी, एस. जियारंजन और राजन कृष्णन (2002) : 4397-4406.

[61] प्रेम चौधरी (1998) : 332-367.

[62] प्रेम चौधरी (1994).

और 'चद्दरअंदाज़ी' के नामों से प्रचलित इस रीति में विधवा स्त्री की मर्ज़ी के लिए कोई जगह नहीं रहती। पति की मृत्यु के बाद ख़ासकर देवर अन्यथा जेठ और यहाँ तक कि श्वसुर के साथ विधवा को ब्याहने का मक़सद सम्पत्ति और श्रम का संरक्षण करना रहा है।[63] पति की मृत्यु के बाद उसके हिस्से की सम्पत्ति की उत्तराधिकारी विधवा सम्पत्ति के साथ अपनी इच्छा से कोई छेड़छाड़ न करे, अथवा उस सम्पत्ति के बल पर स्वच्छंद जीवन जीने की न सोचे, इसके लिए ही उसे परिवार के ही किसी पुरुष सदस्य (देवर, जेठ या उम्रदराज़ श्वसुर) के साथ ज़बरन बाँध दिया जाता था।[64] इससे उसकी श्रमशक्ति भी संरक्षित रह जाती थी। आख़िर खेतिहर समाज में स्त्रियाँ घर से लेकर बाहर खेतों तक बहुत सारे काम करती हैं। करेवा के ज़रिये यौन और सम्पत्ति पर नियंत्रण के उपक्रम का विधवाओं द्वारा विरोध का तरीक़ा अनूठा रहा है। प्रेम चौधरी ने ऐसे कई मामलों का ज़िक्र किया है जिनसे ज़ाहिर होता है कि कई विधवाओं को बदचलन कहलाना, अवैध संतान की माँ कहलाना मंज़ूर था, लेकिन पति की मृत्यु से प्राप्त यौन और आर्थिक स्वतंत्रता का अवसर हाथ से जाने देना गँवारा नहीं था।[65]

इसी तरह, करिन कपाड़िया ने अपने अध्ययन *शिवा ऐंड हर सिस्टर्स* में तमिलनाडु के एक गाँव अरुलूर के अस्पृश्य पल्लू स्त्रियों के जीवनानुभवों के माध्यम से जाति, वर्ग और जेण्डर के परस्पर जुड़ाव आधारित कार्यप्रणाली की समझ विकसित की है और जाति-समाज में विद्यमान स्तरीकृत पितृसत्ताओं को उजागर किया है।[66] कपाड़िया ने पाया कि हिंदू स्त्रियाँ जाति और वर्ग के आधार पर बँटी हुई हैं और इसलिए अनुभव और दीन-दुनिया की समझ के स्तर पर भी उनके बीच भिन्नताएँ हैं।[67] किसी एक अनुभव और समझ को सबका अनुभव और सबकी समझ मान कर चलना यथार्थ से मुँह मोड़ना होगा। गिलियन हार्ट के तर्ज़ पर कपाड़िया ने भी प्रस्तुत शोध इस धारणा के साथ ही किया है कि वर्ग और जाति की कार्य-पद्धति की समझ जेण्डरीय विश्लेषण के बिना सम्भव नहीं है।[68]

जाति और जेण्डर की परस्पर-सम्बद्धता पर लीला दुबे का कार्य भी उल्लेखनीय है।[69] दुबे ने इस तथ्य का उद्घाटन किया है कि किस तरह किसी जाति के लिए निर्धारित पेशे, पहनावे, खान-पान, विवाह और यौन संबंधी आचार-व्यवहार का अक्षुण्ण रहना और इस तरह उक्त जाति का एक दायराबद्ध इकाई के रूप में पुनरुत्पादन और इसलिए जाति-व्यवस्था की निरंतरता उक्त जाति की स्त्रियों पर निर्भर करती है। मिसाल के लिए, यदि जातिगत पेशे की ही बात करें तो खेती करने वाली जातियों और धोबी, नाई, चमार, बुनकर, कुम्हार आदि जैसी पारम्परिक पेशेवर जातियों के पेशे की निरंतरता की इनकी स्त्रियों के बिना कल्पना ही नहीं की जा सकती। इन जातियों की स्त्रियाँ और बच्चे घर के काम-काज से लेकर पुरुषों के काम में भी हाथ बँटाते हैं। बुनकर और कुम्हार स्त्रियाँ तो तैयार माल बेचने का काम भी करती हैं।[70] उत्तर-भारत में नाई स्त्रियाँ अपने जजमान के घरों की स्त्रियों के नाखून काटने, पैर रँगने, नवजात शिशु और माँ की तेल मालिश करने और विवाह के वक़्त वधू की परिचारिका-संगी की भूमिका निभाने जैसे महत्त्वपूर्ण कार्य करती हैं।[71] इसी तरह दक्षिण भारत में लड़की के प्रथम मासिक स्राव के अवसर पर होने वाला अनुष्ठान धोबिन द्वारा कपड़े धोने के बिना सम्पन्न नहीं हो सकता।[72] इसके अलावा हर क्षेत्र

[63] प्रेम चौधरी : 74-87.
[64] वही : 82-83.
[65] वही : 103.
[66] करिन कपाड़िया (1996).
[67] वही : 6.
[68] वही.
[69] लीला दुबे (1996) : 1-27.
[70] वही : 3.
[71] वही : 4.
[72] वही.

में प्रसव का काम अछूत जाति की स्त्री ही करती रही है। वे और उनके पुरुष ऊँची जातियों को शुद्ध रखने और करने के कार्य करते रहे हैं। विभिन्न कारणों से उपरोक्त जातियों के पुरुषों द्वारा पारम्परिक पेशे त्यागने की स्थिति में उन पेशों को ढोने की समूची ज़िम्मेदारी उनकी स्त्रियों पर ही आ जाती है।

दुबे ने दिखाया है कि ऊँची जातियों की स्त्रियाँ खान-पान, यौन और दैनंदिन जीवन के आचार-व्यवहार के स्तर पर निर्धारित क़ायदों का पालन कर जाति की शुद्धता और पदानुक्रम में उसकी स्थिति सुरक्षित रखने की भूमिका निभाती हैं।[73] इसके साथ ही वे यह भी उद्घाटित करती हैं कि निम्न जातियों की स्त्रियों के साथ ऊँची जातियों के पुरुष जब चाहें तब यौन-संबंध बना सकते हैं, जो प्राय: बलात्कार होता है। वहीं निम्न जाति के पुरुष और ऊँची जाति के स्त्री के बीच प्रेम तक की कल्पना नहीं की जा सकती। कारण, श्रेष्ठ बीज (ऊँची जाति के पुरुष का वीर्य) हीन धरती (निम्न जाति के स्त्री का गर्भाशय) पर गिरे तो कोई हर्ज़ नहीं लेकिन हीन बीज को श्रेष्ठ धरती पर नहीं गिरना चाहिए।[74] इस तरह हम पाते हैं कि एस. आनंदी, प्रेम चौधरी, करिन कपाड़िया, लीला दुबे के अध्ययन ब्राह्मणवादी पितृसत्ता के सिद्धांत की पुष्टि करते हैं।

निज विचार

मैंने पर्चे की शुरुआत गर्डा लर्नर और उमा चक्रवर्ती के विमर्श से की है। इन दोनों ही इतिहासकारों ने अपने-अपने सामाजिक संदर्भों में यह ज़ाहिर करने की कोशिश की है कि आज जिन सत्ता-संरचनाओं के बीच हम जी रहे हैं वे किस तरह एक-दूसरे से आबद्ध हैं। यह आबद्ध होना केवल कार्यप्रणाली-गत अथवा अस्तित्वगत नहीं है बल्कि निर्मितिगत भी है। दूसरे शब्दों में, वर्ग-व्यवस्था, नस्लीयता और पितृसत्ता की निर्मिति संग-संग हुई है। जाति-व्यवस्था, पितृसत्ता और राज्य साथ-साथ वजूद में आये। यदि सत्ता-संरचनाएँ परस्पर अवलम्बित हैं तो उनके विश्लेषण के लिए विकसित की गयी श्रेणियों के बीच पार्थक्य कैसे मुमकिन है? और यदि यह पार्थक्य नामुमकिन है तो इनके आधार पर परिवर्तन और मुक्ति के विचार और परियोजनाएँ अलग-अलग मंचों से कैसे संचालित की जा सकती हैं? इन दोनों ही इतिहासकारों ने यही स्पष्ट करने की कोशिश की है ये सत्ता-संरचनाएँ एक ही तंत्र का विभिन्न पहलू हैं और इसलिए इन्हें इसी रूप में समझने और एक-साथ ख़त्म करने की ज़रूरत है।

यह कैसे सम्भव हो सकता है कि किसी एक सत्ता संरचना, मसलन अ को प्राथमिक क़रार दे कर उसे ख़त्म करने के लिए अभियान छेड़ दिया जाए और कहा जाए कि अन्य सत्ता-संरचना, ब और स, आदि से बाद में निबटा जाएगा, क्योंकि वे मामूली हैं। भले ही, अ को मिटाने के अभियान में ब और स की भरपूर व्याप्ति हो। इतिहास गवाह है कि यह स्थगन प्रलोभन और छलावे के अलावा कुछ नहीं है। यदि कोई ख़ुद को मार्क्सवादी मानता है तो उसे उसके साथ ही जातिवाद विरोधी और पितृसत्ता विरोधी भी होना होगा। यही बात जातिवाद विरोधी और पितृसत्ता विरोधी के साथ भी लागू होती है। यदि वर्ग की राजनीति करने वाले जाति और जेण्डर के प्रति उदासीनता बरतते रहे तो बदले में ऐसा नहीं होना चाहिए कि जाति और जेण्डर की राजनीति करने वाले वर्ग को नज़रअंदाज़ करके चलें।

पर्चे में मैंने पहले पश्चिमी संदर्भ लिया है और फिर, भारतीय। पहले गर्डा लर्नर आयी हैं फिर उमा चक्रवर्ती। पहले वर्ग, नस्ल और जेण्डर समीकरण आया है, और उसके बाद वर्ग, जाति और जेण्डर समीकरण। यहाँ मेरा मक़सद इन प्रसंगों में आये परवर्तियों को पूर्ववर्तियों का अनुगामी बताना कदापि नहीं है। उमा चक्रवर्ती ने अपनी चिंतन पद्धति पर गर्डा लर्नर के प्रभाव को स्वीकार किया है।[75] ख़ासकर, पितृसत्ता के अन्य सत्ता-संरचनाओं से जुड़े होने की अंतर्दृष्टि उन्हें लर्नर से मिली। इसी

[73] वही : 6-11.

[74] वही : 11.

[75] उमा चक्रवर्ती (1993) : 579.

तरह, दलित स्त्रियों के तिहरे शोषण के सिद्धांत पर अश्वेत स्त्रियों द्वारा विकसित सिद्धांत की छाप स्पष्ट देखी जा सकती है। अश्वेत नारीवाद के इस प्रभाव को स्वीकार भी किया गया है। जिस तरह दलित-मुक्ति का दर्शन और राजनीति अश्वेत मुक्ति के दर्शन और राजनीति से प्रेरित और प्रभावित होता रहा है उसी तरह दलित नारीवाद भी अश्वेत नारीवाद से अंतर्दृष्टि ले रहा है।[76] यह अंधानुकरण हरगिज़ नहीं है। और न ही इससे यह नतीजा निकलता है कि जैसी स्थिति अश्वेत स्त्री की है हू-ब-हू वैसी ही स्थिति दलित स्त्री की भी है। इसकी वजह यह है कि दलित भले ही अस्पृश्य माने जाते रहे हों, लेकिन बलात् या अन्यथा जाति-व्यवस्था की विचारधारा, जिसे ब्राह्मणवाद कहा जाता है, ने उन्हें उस तरह से बाहरी या अन्य नहीं माना जिस तरह श्वेत समाज ने अश्वेत को। दलित स्त्रियाँ ब्राह्मणवादी पितृसत्ता के तहत ही आती हैं। इसलिए अलग से दलित पितृसत्ता जैसी कोई संस्था नहीं है, जो इन दिनों दलित नारीवाद में पारिभाषिक शब्दावली का रूप लेता जा रहा है।

और अंत में, मैं इस पर्चे में न तो अश्वेत नारीवाद पर विस्तार से विचार कर सका हूँ और न ही दलित नारीवाद पर। इसका कारण यह है कि मेरा ज़ोर सत्ता-संरचनाओं की अंतर्संबंधता को समझने के लिए विकसित नारीवादी दृष्टिकोण के विवेचन पर रहा है।

संदर्भ

अलेक्जेंद्रा कोलंताई (1998), *कोलंताई ऑन वुमंस लिबरेशन,* बुकमार्क्स, लंदन.

अल्फ्रेड जी. मेयर (1978), 'मार्क्सिज़म ऐंड वुमंस मूवमेंट', डी. एट्किंसन (सं.), *वुमॅन इन रशिया,* अलेक्जेंडर डेलिन और जी.डब्ल्यू, लैपिडस, ससेक्स, इंग्लैंड.

इरफ़ान हबीब (2005), *एसेज़ इन इण्डियन हिस्ट्री,* तूलिका बुक्स, नयी दिल्ली.

उमा चक्रवर्ती (1988), 'बियॉन्ड द अल्टेरियन पैराडाइम : टुवड्र्स अ न्यू अंडरस्टैंडिंग ऑफ़ जेण्डर रिलेशंस इन अर्ली इण्डियन हिस्ट्री', *सोशल साइंटिस्ट,* खण्ड 16, अंक 8.

----------(1993), 'कंसेप्चुअलाइजिंग ब्राह्मणिकल पैट्रियार्की', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 28, अंक 14.

----------(2006), 'व्हाटएवर हैपेंड टू वैदिक दासी', कुमकुम संगारी और सुदेश वैद (सं.), *रिकास्टिंग वुमॅन,* ज़ुबान, नयी दिल्ली.

----------(2011), *जाति समाज में पितृसत्ता,* हिंदी अनु. : विजय कुमार झा, ग्रंथशिल्पी, नयी दिल्ली.

एम.एन. श्रीनिवास (1959), 'द डॉमिनेंट कास्ट इन रामपुरा', *अमेरिकन एंथ्रोपोलॅजिस्ट,* अंक 61.

----------- (1977), 'द चेंजिंग पोजिशन ऑफ़ इण्डियन वुमॅन', *मैन : न्यू सीरीज़* 12.2.

एस. आनंदी, एस. जियारंजन और राजन कृष्णन (2002), 'वर्क, कास्ट ऐंड कंपीटिंग मैसक्यूलिनिटीज़ : नोट्स फ्रॉम ए तमिल विलेज', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 37, अंक 43.

करिन कपाड़िया (1996), *शिवा ऐंड हर सिस्टर्स : जेण्डर, कास्ट ऐंड क्लास इन रूरल साउथ इण्डिया,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

कुमकुम रॉय और उमा चक्रवर्ती (1988), 'इन सर्च ऑफ़ आवर पास्ट', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 30, अंक 8.

केट मिलेट (1971), *सेक्शुअल पॉलिटिक्स,* लंदन.

गर्डा लर्नर (1993), 'रिकंसेप्चुअलाइज़िंग डिफ़रेंस', एलिसन एम. जैगर और पाउला एस. रोथेनबर्ग (सं.), *फ़ेमिनिस्ट फ़्रेमवर्क्स : आल्टरनेटिव थियरिटिकल एकाउंट्स ऑफ़ द रिलेशंस बिटवीन वुमॅन ऐंड मेन,* तीसरा संस्करण, मैकग्रा हिल, बोस्टन, मेसाचुसेट्स.

गेल ओमवेट (1994), *दलित्ज़ ऐंड डेमॉक्रैटिक रेवोल्यूशन,* सेज प्रकाशन, नयी दिल्ली.

[76] रूथ मनोरमा (2007), ऑन कास्ट ऐंड पैट्रियार्की : एन इंटरव्यू विद रूथ मनोरमा, https://youngfeminists.wordpress.com/2007/12/27/on-caste-and-patriarchy-an-interview-with-ruth-manorama/.

गेल रूबिन (1975), 'द ट्रैफ़िक इन वुमॅन', आर.आर. रीटर (सं.), *टुवड्‌र्स एन एंथ्रोपोलॅजी ऑफ़ वुमॅन,* मंथली रिव्यू प्रेस, न्युयॉर्क और लंदन.

गोपाल गुरु (1995), 'दलित वुमॅन टॉक डिफ़रेंटली', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 30, अंक 41.

चेर्नी ग्यूटेल (1974), *मार्क्सिज़म ऐंड फ़ेमिनिज़म,* टोरंटो.

ज़िल्ला आइज़ेंस्तीन (1979), *कैपिटलिस्ट पैट्रियार्की ऐंड द केस फ़ॉर सोशलिस्ट फ़ेमिनिज़म,* मंथली रिव्यू प्रेस, न्युयॉर्क और लंदन.

ज्योतिबा फुले, *सेलेक्टेड वर्क्स* (2002), जी.पी देशपांडे (सं.), लेफ़्टवर्ल्ड, नयी दिल्ली.

डोरोथी स्मिथ (1987), *द एवरी डे वर्ल्ड एज़ प्रोब्लेमेटिक : अ फ़ेमिनिस्ट सोसियोलॅजी,* नार्थ ईस्टर्न युनिवर्सिटी प्रेस, बोस्टन.

नूर यलमान (1962), 'ऑन द प्यूरिटी ऑफ़ वुमॅन इन द कास्ट्स ऑफ़ सीलोन ऐंड मालाबार', *जर्नल ऑफ़ द रॉयल एंथ्रोपोलॅजिकल इंस्टीट्यूट ऑफ़ ग्रेट ब्रिटेन ऐंड आयरलैंड,* अंक 93.

नैंसी सी.एम. हार्टसॉक (1987), *मनी,सेक्स ऐंड पॉवर : टुवड्‌र्स अ फ़ेमिनिस्ट हिस्टोरिकल मैटेरियलिज़्म,* नार्थ ईस्टर्न युनिवर्सिटी प्रेस, बोस्टन.

पेरियार ई. वी. रामास्वामी नायकर (2010), *वुमॅन एन्सलेव्ड,* अनु. जी. अलोयसियस, *क्रिटिकल क्वेस्ट,* नयी दिल्ली.

प्रेम चौधरी (1994), *द वील्ड वुमॅन : शिफ़्टिंग जेण्डर इक्वेशंस इन रूरल हरियाणा 1880–1990,* दिल्ली : ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

प्रेम चौधरी (1998), 'इन्फ़ोर्सिंग कल्चरल कोड्स : जेण्डर ऐंड वॉयलेंस', मैरी ई. जॉन और जानकी नैयर (सं.), *अ क्वेश्चन ऑफ़ सायलेंस ? द सेक्शुअल इकॉनॉमीज़ ऑफ़ मॉडर्न इण्डिया,* काली फ़ॉर वुमॅन, नयी दिल्ली.

फ्रेड्रिक एंगेल्स (3003), *परिवार, निजी सम्पत्ति और राज्य की उत्पत्ति,* हिंदी अनु. : मुरली मनोहर प्रसाद सिंह, ग्रंथशिल्पी, नयी दिल्ली .

बी.आर. आम्बेडकर (1916), *कास्ट्स इन इण्डिया : देयर मेकैनिज़्म, जेनेसिस ऐंड डिवेलपमेंट,* पत्रिका पब्लिकेशन, पंजाब.

मार्क्स, एंगेल्स कलेक्टेड वर्क्स, इंटरनैशनल पब्लिशर्स, 1975, खण्ड–2 : 205–208; खण्ड–3 : 498–503.

मिशेल बैरेट (1988), *वुमंस ऑप्रेशन टुडे : द मार्क्सिस्ट/फ़ेमिनिस्ट एनकाउंटर,* वर्सो, न्युयॉर्क, लंदन.

मोहनदास नैमिशराय (2005), 'दोनों गालों पर थप्पड़', अभय कुमार दुबे (सं.), *आधुनिकता के आईने में दलित,* तृतीय मुद्रण, सीएसडीएस–वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली.

रूथ मनोरमा (2007), ऑन कास्ट ऐंड पैट्रियार्की : एन इंटरव्यू विद रूथ मनोरमा, https://youngfeminists.wordpress.com/2007/12/27/on-caste-and-patriarchy-an-interview-with-ruth-manorama/.

लीला दुबे (1996), 'कास्ट ऐंड वुमॅन', एम.एन. श्रीनिवास (सं.), *कास्ट : इट्स ट्वेंटियथ सेंचुरी अवतार,* पेंगुइन बुक्स इण्डिया, नयी दिल्ली.

वी.आई. लेनिन (1934), *ऑन द इमेंसिपेशन ऑफ़ वुमॅन,* इंटरनैशनल पब्लिशर्स, न्युयॉर्क.

वी. गीता (1998), 'पेरियार ऐंड एथिक ऑफ़ सिटीज़नशिप', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 33, अंक 17 : डब्ल्यूएस 9–डब्ल्यूएस 15.

सांद्रा हार्डिंग (1991), *हूज़ साइंस हूज़ नॉलेज़ ? थिंकिंग फ्रॉम वुमंस लाइव्ज़,* कॉर्नेल युनिवर्सिटी प्रेस, न्युयार्क.

सुलेमिथ फ़ायरस्टोन (1972), *द डायलेक्टिक ऑफ़ सेक्स,* लंदन.

सूज़न हेकमैन (1990), *जेण्डर ऐंड नॉलेज : एलीमेंट्स ऑफ़ पोस्ट मॉडर्न फ़ेमिनिज़्म,* नार्थ ईस्टर्न युनिवर्सिटी प्रेस, बोस्टन.

शर्मिला रेगे (1998), 'दलित वुमॅन टॉक डिफ़रेंटली : ए क्रिटिक ऑफ़ डिफ़रेंस ऐंड टूवर्ड्स ए दलित फ़ेमिनिस्ट स्टैंडपाइंट पोज़िशन', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 33, अंक 44.

शर्मिला रेगे (सं.) (2013), *एगेन्स्ट द मैडनेस ऑफ़ मनु,* नवायन, नयी दिल्ली.

हेडी हार्टमैन (1981), 'द अनहैपी मैरिज ऑफ़ मार्क्सिज़म ऐंड फ़ेमिनिज़म : टुवड्‌र्स ए मोर प्रोग्रेसिव यूनियन', एम.ए. लाइडिया सारजेंट (सं.), *वुमॅन ऐंड रेवोल्यूशन : अ डिस्कशन ऑफ़ अनहैपी मैरिज ऑफ़ मार्क्सिज़म ऐंड फ़ेमिनिज़म,* साउथ ऐंड प्रेस, बोस्टन.

हेज़ेल वी. कार्बी (1997), 'व्हाइट वुमॅन लिसेन : ब्लैक फ़ेमिनिज़म ऐंड द बाउंड्रीज ऑफ़ सिस्टरहुड', आर. हेन्नेसी और क्रिस इंग्राहम (सं.), *मैटेरियलिस्ट फ़ेमिनिज़म : अ रीडर इन क्लास, डिफ़रेंस ऐंड वुमंस लाइव्ज़,* रौटलेज, न्युयॉर्क.